## अध्याय-५

# वेदों का काल

संस्कृत साहित्य का अध्ययन यूरोपीय विद्वानों के द्वारा किये जाने के अनन्तर ही विभिन्न ग्रन्थों के रचनाकाल के निर्धारण का प्रयास आरम्भ हुआ है। वेदों के आविर्भाव का भी प्रश्न तभी उठा। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने परम्परा से वेदों को अपौरुषेय कहकर उनके अनादि होने का सिद्धान्त प्रचारित किया था। एक ऋषि से दूसरे ऋषि तक वैदिक वाङ्मय संक्रान्त होता गया और आज तक वह परम्परा चलती है, ऐसा तर्क देकर मीमांसकों ने वेदों की रचना का प्रश्न टाल दिया। दूसरे दर्शनों में ईश्वरकृत मानकर भी इस प्रश्न की उपेक्षा हुई। जिन ऋषियों को वेदमन्त्रों से जोड़ा गया है, वे मन्त्रों के रचयिता नहीं थे अपितु पूर्वस्थित वेदमन्त्रों के प्रचारक थे, प्रथम प्रवचनकर्ता थे। ऋषि दयानन्द ने वेदों के, सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरद्वारा मानवों के हित के लिए प्राचीन ऋषियों के मानस में, प्रकाशन की बात कही है। सृष्टि का आरम्भ भी प्राचीन मान्यताओं पर आश्रित है। स्वामी दयानन्द ने इस काल को एक अरब छियानबे करोड़ वर्ष पूर्व माना है। किन्तु ये सभी मान्यताएँ आज के विकासवाद से प्रभावित युग में हास्यास्पद समझी जाती हैं। इसलिए विभिन्न वैदिक ग्रन्थों के रचनाकाल के विवेचन का प्रयास पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से किया है।

वेदों के रचनाकाल के निर्धारण में कई संकट भी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, जैसे-प्रामाणिक अन्त:साक्ष्य और बहि:साक्ष्य का अभाव, वैदिक ग्रन्थों में वर्ष, तिथि आदि का अभाव, ज्योतिष-सम्बन्धी एवं भौगोलिक उल्लेखों की अस्पष्टता, भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण में मौलिक भेद, प्राचीन विद्वानों का वेदों में इतिहास न मानना (उन्हें ईश्वरीय सन्देश समझना) तथा अपौरुषेयता का उक्त मत। कम से कम किसी निर्णय पर पहुँचने में ये संकट अवश्य ही बाधक होते हैं। पाश्चात्य विद्वान् अपने पूर्वाग्रह के कारण वेदों का रचना-काल ईस्वी सन् के आस-पास लाने का प्रयास करते हैं तों भारतीय विद्वान् उन्हें अधिकाधिक पीछे ले जाने के पक्षधर हैं। स्पष्टत: जितने भी मत इस विषय में प्रस्तुत किये गये हैं वे आनुमानिक तथा काल्पनिक हैं। मतभेदों के कारण काल-निर्णय में सहस्रों वर्षों का अन्तर है जिसे समन्वित करना कठिन है।

वेदों के काल की पूर्व सीमा नहीं हो सकती क्योंकि संसार के ये प्रथम ग्रन्थ हैं। इनके काल की उत्तर सीमा छठी शताब्दी ई० पू० है जबकि महावीर तथा बुद्ध ने वैदिक कर्मकाण्ड की निन्दा की। वैदिक युग का अन्तिम अङ्ग सूत्र-साहित्य (कल्प) अवश्य ही इस काल के पहले विद्यमान था। इस उत्तरसीमा को सभी मानते हैं किन्तु पूर्वसीमा के विषय में मतैक्य नहीं-कहीं कृपणता से प्रवृत्ति हुई है तो कहीं उदारता है। यहाँ वेदों के काल का निर्णय करने वाले मुख्य मतों का वर्गीकरण किया जाता है-

### (क) भाषाशास्त्र पर आश्रित मत

इसके अन्तर्गत प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् फ्रेडरिख मैक्समूलर का तथा अन्य आधुनिक

भाषाशास्त्रियों के मत प्रस्तुत हैं। वेदों के रचनाकाल का निर्णय करने का प्रथम प्रयास वस्तुत: मैक्समूलर ने ही किया था। सन् १८५९ ई. में प्रकाशित 'ए हिस्ट्री आफ एंशियन्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय तिथिक्रम पर विचार किया। उनके मत में भारतीय इतिहास में दो ही प्राचीन निश्चित तिथियाँ हैं-सिकन्दर का भारत पर आक्रमण (३२६ ई० पू०) तथा बौद्ध धर्म का आविर्भाव (छठी शताब्दी ई० पू०)। मैक्समूलर का कथन है कि चारों वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-ग्रन्थ बुद्ध के आविर्भाव अर्थात् ५०० ई० पू० के पहले हो चुके थे। सूत्र-साहित्य बौद्ध धर्म के प्राथमिक प्रचार के समकालिक हो सकते हैं, अत: उनका समय ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक सम्भव है।

बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व के वैदिक साहित्य को मैक्समूलर तीन स्पष्ट चरणों में विभाजित करते हैं। प्रत्येक के विकास के लिए २०० वर्षों की अवधि रखना वे पर्याप्त समझते हैं-

१. छन्द:काल (१२०० ई० पू०-१००० ई० पू०)।

२. मन्त्रकाल (१००० ई० पू०-८०० ई० पू०)।

३. ब्राह्मणकाल (८०० ई० पू०-६०० ई० पू०)।

इस प्रकार उनका मत है कि यदि प्रत्येक काल की विचारधारा और भाषा के विकास के लिए २०० वर्षों का समय मान लें तो प्राचीनतम वैदिक मन्त्र १२०० ई० पू० के पहले के नहीं हो सकते।

दो सौ वर्षों की कालावधि किसी तथ्य पर आश्रित न होकर विशुद्ध कल्पना पर अवलम्बित है किन्तु यह मान्यता इतनी बार दुहरायी गयी कि परवर्ती युग में बिना सोचे-समझे स्थापित-सी हो गयी। स्वयं मैक्समूलर ने अपने मत पर सन्देह प्रकट करते हुए १८८९ ई० के जिफोर्ड व्याख्यानमाला के अन्तर्गत कहा था कि वैदिक सूक्तों की रचना १००० या १२०० या २००० या ३००० ई० पू० में हुई, इसका निर्णय संसार में कभी कोई नहीं कर सकेगा। वस्तुत: उपर्युक्त तिथिक्रम को मैक्समूलर ने प्रस्तावित किया था कि घोर अनिश्चय के अन्धकार में कल्पना का प्रकाश पड़ सके। ह्विटनी ने इस सुझाव को माननेवालों की कड़ी आलोचना की थी।[1] इस सिद्धान्त का महत्त्व इतना ही है कि भाषाशास्त्र के आधार पर वेदों के काल-निर्णय का यह प्रथम प्रयास था।

ऋग्वेद तथा अवेस्ता (पारसियों का धर्मग्रन्थ) की भाषाओं की तुलना को भी इस क्षेत्र में बहुत महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता है। दोनों ग्रन्थों में भाषा-तत्त्व की दृष्टि से बहुत साम्य कहा जाता है। यह साम्य भाषा के अतिरिक्त विचार-तत्त्व पर भी आश्रित है। इस आधार पर कहा जाता है कि भारतीय आर्य तथा ईरानी लोग बहुत दिनों तक साथ रहे थे। पृथक् होने के कुछ दिनों के बाद ईरान में पारसी-धर्म का विकास 'जेन्द अवेस्ता' नामक ग्रन्थ की रचना से हुआ और भारत (सप्तसिन्धु-प्रदेश) में आर्यों के पुरोहितों ने ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना की। अवेस्ता १००० ई० पू० मानी गयी है, अत: समान भाषा वाले ऋग्वेद को भी १४०० ई० पू० में माना जा सकता है। मैकडोनल का कथन है कि १३०० ई० पू० के आस-पास भारतीय तथा ईरानी शाखाओं का पार्थक्य हुआ था। उसी समय ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना चल रही थी। ईरानी शाखा में कुछ बाद में

1. Oriental and Linguistic Study, New York (1872), p.78.

अवेस्ता की रचना हुई। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों का तथाकथित भाषागत साम्य ऋग्वेद के तिथिक्रम को बहुत पीछे ले जाने नहीं देता। अवेस्ता का काल निश्चित है (१००० ई० पू०)।

भाषाशास्त्रीय आधार पर निर्णय लेने में कठिनाइयों की ओर ध्यान दिलाते हुए विन्टरनित्स ने कहा है- "जहाँ तक भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है, यह कहना नितान्त असम्भव है कि भाषाओं में कितने काल में कितना परिवर्तन होता है। कई भाषाएँ बड़ी शीघ्रता से बदल जाती हैं, दूसरी सुदीर्घकाल तक लगभग अपरिवर्तित रहती हैं। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि पुरोहितों की भाषाएँ (जैसे वैदिक सूक्तों या अवेस्ता की भाषा) भाषित भाषाओं की अपेक्षा बहुत अधिक काल तक अपरिवर्तित रह सकती हैं।"[१]

इसी प्रकार भाषाओं के परिवर्तन पर टिप्पणी देते हुए भारतीय विद्वान् प्रो० कुञ्जन् राजा कहते हैं कि वर्तमान युग की संस्कृत भी ऋग्वेद में प्रयुक्त भाषा से उतना अधिक परिवर्तित नहीं हुई है जितना अवेस्ता की भाषा उस मानदण्ड से हट चुकी है। आधुनिक संस्कृत समझने वाला व्यक्ति अल्प प्रयास से ही ऋग्वेद की भाषा को समझ लेता है क्योंकि उनमें इतना अधिक वैषम्य नहीं जबकि ऋग्वेद के काल से आधुनिक काल का अन्तर सहस्राब्दियों का है। दूसरी ओर ऋग्वेद और अवेस्ता के अन्तर को साधारण लोग नहीं, केवल भाषाशास्त्री ही समझ पाते हैं। दोनों में व्याकरणिक संरचना तथा शब्द-भाण्डागार का सीधा-सादा अन्तर है। इन भाषाओं में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है जैसा मराठी और हिन्दी में अथवा इतालवी और स्पेनी भाषाओं में है।[२] ऋग्वेद और अवेस्ता के अर्थतत्त्व में संस्कृति का इतना अधिक अन्तर है कि दोनों को काल की दृष्टि से समीप मानने की विवशता नहीं हो सकती। ऋग्वेद के 'सोम-याग' तथा अवेस्ता के 'हओम-यस्न' में धार्मिक समता इतना ही संकेत करती है कि दोनों का उद्‌गम समान-स्थल में हुआ था। ऋग्वेद-काल के बहुत से देवता अवेस्ता में दैत्य-रूप में देखे गये हैं जैसे-इन्द्र। ऋग्वेद के साधारण देवता (जैसे अश्विना) अवेस्ता में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण वैदिक देवताओं को अवेस्ता में कोई स्थान नहीं। उषस्, सूर्य, सवितृ, विष्णु, रुद्र, यम इत्यादि देवता अवेस्ता में हैं ही नहीं। अत: धर्म की दृष्टि से अवेस्ता ऋग्वेद से जुड़ी होने पर भी बहुत दूरवर्ती स्थिति का संकेत देती है।

अतएव भाषाशास्त्र या संस्कृति की दृष्टि से अवेस्ता को ऋग्वेद के समीप मानकर काल का निर्धारण करना उचित नहीं है।

## (ख) ज्योतिष-शास्त्र पर आश्रित मत

कुछ पाश्चात्त्य तथा अनेक भारतीय विद्वानों ने वेदों में निर्दिष्ट ज्योतिष-शास्त्रीय संकेतों को आधार बनाकर वेदों के काल के निर्धारण का प्रयत्न किया है। लुडविग ने सूर्यग्रहण के आधार पर यह प्रयत्न किया था। किन्तु जर्मनी के विद्वान् हरमन याकोबी तथा भारतीय विद्वान् बाल गंगाधर तिलक ने १८९३ ई० में पृथक्-पृथक् इस क्षेत्र में जो निष्कर्ष निकाले उनसे सभी चकित हो गये। पाश्चात्त्य जगत् में तो खलबली मच गयी।

---

१. एम. विन्टरनित्स- **भारतीय साहित्य का इतिहास**, भाग-१, खण्ड-१ (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ २२६।
२. डॉ० कुञ्जन् राजा- **The Vedas**, Andhra Univ., Waltair, 1957, p. 28.

वैदिक युग के पुरोहितों को यज्ञ के काल का निश्चय करना होता था। इसलिए तिथिपत्र या पञ्चाङ्ग बनाने का काम आरम्भ हुआ। इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्र-ग्रन्थों में गणित ज्योतिष एवं तिथिक्रम-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपन्यस्त की गयी है। काल के निर्णय में नक्षत्रों का विशेष महत्त्व था, उनकी संख्या सत्ताईस मानी गयी जो सम्पूर्ण आकाश-वृत्त पर आश्रित है। नक्षत्रों का योग सूर्य और चन्द्रमा से पृथक्-पृथक् होता है जिसके आधार पर क्रमश: सौरमास और चान्द्रमास की कल्पना हुई। दोनों के कारण जो वर्ष-गणना में अन्तर होता था उसे सन्तुलित करने का भी प्रयास हुआ। मास की गणना २७ नक्षत्रों के आधार पर हुई। राशियों के आधार पर सौरमासों की संख्या १२ हुई और नक्षत्र तथा राशि का सम्बन्ध निरूपित हुआ। वैदिक युग में नक्षत्रों की आकाशीय स्थिति के कुछ ऐसे संकेत मिले हैं जिनसे उस प्राचीन युग की काल-गणना संभव हुई है।

सर्वप्रथम कृत्तिका-नक्षत्र से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण (२/१/२) के एक विधान की ओर इन विद्वानों का ध्यान गया-"तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत । **एता ह वै प्राच्या दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्या दिशश्च्यवन्ते।**" अर्थात् कृत्तिका-नक्षत्र में ही अग्नि का आधान करना चाहिए क्योंकि यह नक्षत्र पूर्वदिशा से नहीं हटता जबकि अन्य नक्षत्र पूर्व दिशा से हटे रहते हैं। भारतीय विद्वान् **शंकर बालकृष्ण दीक्षित** ने कृत्तिका की पूर्वबिन्दु पर इस स्थिति को ३००० ई० पू० में सम्भव बताया है। तैत्तिरीय संहिता और ऋग्वेद को उन्होंने इस समय से ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् ३५०० ई० पू० में रखा है क्योंकि ये शतपथ से प्राचीनतर हैं।[1]

**याकोबी** कृत्तिका की इस स्थिति को २५०० ई० पू० में मानते हैं। ऋग्वेद में विषुव संक्रान्ति या वसन्त सम्पात (Vernal Equinox) को नक्षत्रों से जोड़ा गया है। शतपथब्राह्मण में कृत्तिका को विषुव संक्रान्ति के कारण पूर्व में उदित होता हुआ कहा गया है जबकि ऋग्वेद में यह स्थान मृगशिरस् (Orion) को मिल जाता है। यह अन्तर २००० वर्षों में सम्भव है। इस प्रकार याकोबी ऋग्वेद का काल ४५०० ई० पू० मानते हैं।

**याकोबी** की दूसरी युक्ति ध्रुवतारा पर आश्रित है।[2] गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि विवाह के अवसर पर पति पत्नी को ध्रुवतारा का दर्शन कराये। ध्रुवतारा उत्तरी बिन्दु के निकट भास्वर ज्योतिष्पिण्ड है। उस समय दर्शकों को यह स्थिर रूप में दिखाई पड़ता होगा। अयन गति के फलस्वरूप आकाशीय भूमध्य-रेखा खिसकती जाती है और एक के बाद दूसरा तारा उत्तरी ध्रुव की ओर बढ़ता जाता है। वही 'ध्रुव-तारा' बन जाता है। किन्तु बीच-बीच में एक चमकीला तारा भी उत्तरी ध्रुव के इतना निकट पहुँच जाता है कि सामान्यत: उसे ध्रुवतारा कहा जा सकता है। वर्तमान काल में 'लिटिल बीयर' में द्वितीय श्रेणी का एक तारा (जिसे 'अल्का' कहा गया है) उत्तरीय गोलार्ध में 'ध्रुवतारा' कहलाता है। २७८० ई० पू० में 'अल्फा ड्राकोनिस' नाम के तारे को ध्रुवतारा के रूप में मानते थे। लगभग ५०० वर्षों तक वह उत्तरी ध्रुव के इतना समीप रहा कि सामान्य दृष्टि से देखने पर वह स्थिर दिखाई देता था। इस प्रकार गृह्यसूत्र का रचना-काल ३००० ई० पू० हो सकता है। ऋग्वेद में ध्रुव-दर्शन का कोई संकेत नहीं है। अत: वैदिक सभ्यता का आरम्भ इसके बहुत पूर्व अर्थात् ४५०० ई० पू० में माना जा सकता है।

---

१. **शंकर बालकृष्ण दीक्षित- भारतीय ज्योतिःशास्त्र**, पूना (१८९६ ई०), पृ० १३६-४०

२. **विन्टरनित्स-भारतीय साहित्य का इतिहास**, भाग-१, खण्ड-१ (हिन्दी अनुवाद), पृ० २१७-१८।

बाल गंगाधर तिलक ने वसन्त-सम्पात के आधार पर वैदिक साहित्य के विकास का काल-निर्धारण किया है। आजकल वसन्त-सम्पात मीन संक्रान्ति (प्रायः १४ मार्च) से प्रारम्भ होता है जब सूर्य पूर्वभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण में रहता है। यह वसन्त-सम्पात कभी उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु इत्यादि नक्षत्रों से प्रारम्भ होता था जहाँ से क्रमशः पीछे हटते हुए आज की स्थिति में आया है। इस परिवर्तन के कारण ऋतुओं का क्रम पीछे की ओर खिसकता जा रहा है। एक नक्षत्र को पीछे हटने में ९७२ वर्ष लगते हैं। कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का आरम्भ २५०० ई० पू० का द्योतक है। तिलक ने कहा है कि तैत्तिरीयसंहिता में मृगशिरा से वसन्त-सम्पात के आरम्भ का संकेत मिलता है जो ४५०० ई० पू० की घटना है। ऋग्वेद में अदिति-देवी का बहुत गुण-गान है जो पुनर्वसु-नक्षत्र की देवता हैं। इसका अर्थ है कि हम और आगे बढ़कर प्रायः ६००० ई० पू० में ऋग्वेद का काल मानें जबकि पुनर्वसु-नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का आरम्भ होता था।

तिलक ने वैदिक वाङ्मय के विकास का निरूपण निम्नलिखित चार कालों में किया है-

(१) **अदितिकाल** (Pre-Orion Period)- ६००० ई० पू० से ४००० ई० पू० के इस काल में उपास्य देवताओं के नामों, गुणों तथा मुख्य चरितों का निरूपण करने वाले गद्य-पद्यात्मक निविदों तथा याग-सम्बन्धी विधियों की रचना हुई थी।

(२) **मृगशिरा-काल** (Orion Period)- ४००० ई० पू० से २५०० ई० पू० के इस युग में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों की रचना हुई। आर्य-सभ्यता के लिए यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल था। इसमें सभी युगों की अपेक्षा अधिक रचना-कार्य हुआ।[1]

(३) **कृत्तिका-काल** (२५०० ई० पू०-१४०० ई० पू०)- इस काल में तैत्तिरीयसंहिता, शतपथब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों की रचना पूरी हुई। इस काल की अन्तिम सीमा 'वेदाङ्गज्योतिष' नामक ग्रन्थ की रचना है जिसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा (वर्तमान नाम-धनिष्ठा) नक्षत्र के आरम्भ में उत्तर की ओर घूमने का वर्णन है।[2] इस काल तक ऋग्वेद के सूक्त प्राचीन तथा दुर्गम हो चुके थे।

(४) **अन्तिम काल** (१४०० ई० पू०-५०० ई० पू०)- इस काल में सूत्र-साहित्य (कल्प तथा अन्य वेदाङ्ग) तथा षड्-दर्शन सूत्रों की रचना हुई। इसी के अन्त में बौद्ध धर्म का उद्भव हुआ।

याकोबी तथा तिलक के इन ज्योतिषशास्त्रीय मतों का यूरोप में घोर विरोध हुआ। यह कहा गया कि सूर्य के आधार पर विषुव या संक्रान्ति का वैदिक साहित्य में कहीं निर्देश नहीं है। चन्द्रमा के आधार पर ही नक्षत्रों की गणना होती थी, सूर्य के आधार पर नहीं। नव वर्ष के आरम्भ में

---

१. तिलक ने इसी काल को मुख्य मानकर अपने ग्रन्थ का नाम रखा था- The Orion.

२. वेदाङ्गज्योतिष, ६- प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा॥

हॉग इस स्थिति को ११८६ ई० पू० मानकर दो तथ्य निकालते हैं-
(१) १२ वीं शताब्दी ई. पू. में ज्योतिष के क्षेत्र में भारत बहुत आगे बढ़ गया था तथा (२) उस समय तक वैदिक कर्मकाण्ड साहित्य पूर्ण हो गया था। हॉग के अनुसार ऋग्वेद का समय २४०० ई० पू० है।

अव्यवस्था थी- कहीं वसन्त से, कहीं शरद् से और कहीं वर्षा से वर्ष का आरम्भ माना गया है। अत: वसन्त-सम्पात को वर्षारम्भ कहने की बात स्थिर नहीं है। ध्रुवतारा की युक्ति का भी विरोध हुआ। किन्तु विरोध होने पर भी इन मतों का एक विशिष्ट योगदान यह हुआ कि भारतीय संस्कृति को प्राचीनतर सिद्ध करने की दिशा में युक्तियों का अन्वेषण आरम्भ हुआ, मैक्समूलर के मत को 'इत्यलम्' कहकर लोग निश्चिन्त नहीं हो गये। विन्टरनित्स का यह मन्तव्य इस प्रसङ्ग में उद्धरणीय है- " वस्तुत: भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण से इस मान्यता का खण्डन करने वाली कोई युक्ति नहीं है कि वैदिक साहित्य का काल कम से कम ३००० ई० पू० है तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति का काल कम से कम ४००० ई० पू०।"[1]

## (ग) पुरातत्त्व पर आश्रित मत

पुरातत्त्व की दृष्टि से दो प्रमुख तथ्य वैदिक संस्कृति से सम्बन्ध रखते हैं और उनका उपयोग वेदों के काल-निरूपण में किया गया है। इनमें प्रथम है- तुर्की के बोगाज-कुई का अभिलेख तथा द्वितीय है- सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अवशेष।

(१) तुर्की के **बोगाज-कुई** नामक स्थान पर हित्ती साम्राज्य की राजधानी के अवशेषों को प्राप्त करने के लिए उत्खनन करते हुए ह्यूगो विंकलर को सन् १९०७ ई० में एक शिलालेख मिला था जिसमें **हित्ती** और **मितानी** जातियों के राजाओं की सन्धि की चर्चा एक शासनपत्र के रूप में प्राप्त हुई है। इसका समय १४०० ई० पू० माना जाता है। सन्धि-पत्र में दोनों जातियों के राजाओं ने प्राचीन बेबिलोनिया के तथा हित्ती जाति के देवताओं के साथ कतिपय वैदिक देवताओं के नाम भी सन्धि के साक्षी या रक्षक के रूप में दिये हैं। वे वैदिक देवता हैं- मिइत्र (मित्र), उरुवन (वरुण), इन्दर् (इन्द्र) तथा नासतिय (नासत्यौ=अश्विनौ)। इन वैदिक देवताओं के नाम तुर्की में कैसे पहुँचे? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ यूरोपीय विद्वान् कहते हैं कि भारत-ईरानी शाखा का विभाजन होने के पूर्व इन देवताओं को इस अभिलेख में अंकित किया गया था। किन्तु उस काल में किसी देवता की पूजा का संकेत अन्य स्रोतों से नहीं मिला है। कुछ लोग इन नामों में विकृति की दृष्टि से यह सम्भावना मानते हैं कि हित्तियों ने ईरानी देवताओं का ग्रहण किया होगा। किन्तु इस पक्ष में बाधा यह है कि ईरानी धर्म में वरुण का अभाव है, इन्द्र को दैत्य माना गया है और नासत्यों का स्वरूप भी देवता का नहीं है।

अतएव विन्टरनित्स, कुञ्जन् राजा प्रभृति विद्वानों का यह कथन है कि २००० ई० पू० में उत्तर-पश्चिम भारत में निवास करने वाली जातियों का पश्चिम की ओर प्रव्रजन हुआ था जिसके फलस्वरूप उदार हित्ती राजा ने इन जातियों के देवताओं को अपने सन्धिपत्र में स्थान प्रदान किया। जर्मन विद्वान् हिलेब्रांट तथा कोनो का मत है कि भारतीयों का पश्चिम से वैवाहिक सम्बन्ध था और वे भौगोलिक दृष्टि से पश्चिम एशिया के निकट थे। कोनो स्पष्ट कहते हैं कि नासत्यों की उपस्थिति प्राचीन वैवाहिक कर्मकाण्ड में अनिवार्य थी। ऋग्वेद के सूर्या-सूक्त (१०/८५) में अश्विनों का वर्णन इसे सिद्ध करता है। मितानी राजा मत्तिउज से हित्ती राजकन्या (सुब्बिलुलिउम की पुत्री) के विवाह से यह सन्धि पक्की हुई थी। इसलिए नासत्यों का निर्देश इस सन्धि-पत्र में है। इस सन्धि के पूर्व ही ऋग्वेद का प्रचार उस सुदूर प्रदेश में हो चुका था।

१. विन्टरनित्स का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० २१९।

निष्कर्ष यह है कि हित्तियों ने वेदों के इन देवताओं का ग्रहण आर्यों के पश्चिम-प्रवास के परिणामस्वरूप किया था। इनका ईरानी धर्म से कुछ लेना-देना नहीं था। ईरानी धर्म भी आर्यों की एक शाखा से ही विकसित हुआ था। अब पाश्चात्त्य विद्वान् भी इस सम्भावना के आलोक में वेदों का काल २५००-२००० ई० पू० में मानने लगे हैं।

(२) सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अवशेषों का उत्खनन १९२२ ई० से आरम्भ हुआ। इसके दो प्रमुख स्थान हैं- सिन्ध में **मोहन-जो-दरो** तथा पंजाब में **हरप्पा**। ये दोनों स्थान अभी पाकिस्तान में हैं। भारत में भी लोथल (गुजरात), कालीबंगा (राजस्थान) इत्यादि स्थानों में इस तथाकथित हरप्पा-संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इस संस्कृति का काल ४५०० ई० पू० से १६०० ई० पू० तक कहा जाता है। यदि वैदिक युग भी इस काल में माना जाय तो हरप्पा-संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति में क्या सम्बन्ध था? क्या वे दोनों संस्कृतियाँ परस्पर परिचित थीं? अथवा इन दोनों में कालगत पौर्वापर्य था? इन दोनों संस्कृतियों के सम्बन्ध को लेकर अनेक मत प्रचलित हैं।

एक मत यह है कि दोनों स्वतन्त्र जातियों की संस्कृतियाँ थीं और वैदिक आर्यों ने ही सिन्धु-सभ्यता का विनाश किया। इन अवशेषों के उत्खनन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए सर जॉन मार्शल का कथन है कि सैन्धव सभ्यता के विनाश के एक-दो सौ वर्षों के बाद वैदिक संस्कृति का उद्गम हुआ था किन्तु हरप्पा की अत्याधुनिक खुदाइयों, बेबिलोन के तिथिक्रम में संशोधन तथा ऋग्वेद के संकेतों से भी यह सिद्ध होता है कि सैन्धव सभ्यता के ध्वंस और आर्यों के आक्रमण के मध्य कालव्यवधान नहीं होगा।[1] सर मोर्टिमर ह्वीलर जैसे विद्वान् स्पष्ट रूप से आर्यों को ही उस संस्कृति के विनाश का प्रमुख कारण मानते हैं।[2] यह स्थिति ऋग्वेद का काल १६०० ई० पू० में ले आती है।

दूसरा मत यह है कि दोनों संस्कृतियाँ एक ही जाति की थीं। वैदिक सभ्यता ग्रामीण थी और सैन्धव-सभ्यता नागरिक थी। दोनों समकालिक थीं अथवा वैदिक सभ्यता के अन्तर्गत सिन्धु-घाटी की नागरिक सभ्यता का उद्गम हुआ। इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर डॉ० सूर्यकान्त ने संकेत किया है कि वैदिक सभ्यता का प्राण 'अश्व' था जबकि सैन्धव सभ्यता में 'अश्व' का कोई संकेत नहीं मिलता।[3] सिन्धु-सभ्यता परवर्ती या समकालिक थी तो अश्व से वह अपरिचित कैसे रह गयी? दूसरी बात सैन्धव सभ्यता में लिङ्ग-पूजा को लेकर है। ऋग्वेद में लिङ्ग-पूजा करने वालों की निन्दा है (मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः। ऋग्वेद ७/२१/५)। आर्यों के पूर्व यह पूजा भारत में होती थी, शनैः शनैः आर्यों ने भी उत्तर वैदिक युग में (यजुर्वेद तथा शतपथ-ब्राह्मण के निर्देशों के अनुसार) लिङ्गपूजा अपना ली थी। इस आधार पर यह सुझाव दिया गया है कि सैन्धव सभ्यता ब्राह्मण-युग की सभ्यता थी, ऋग्वेद का काल उससे पूर्व का है।

ऋग्वेद में वस्तुतः सैन्धव सभ्यता के समकालिक होने के पर्याप्त संकेत मिलते हैं। शत्रुओं का नाश, इन्द्र के नेतृत्व में शत्रुओं को पराजित करना, विजय-कामना, दास-वर्ण की पराजय,

---

१. ए. एल. बाशम- **The Wonder that was India**, p. 28

२. R. Mortimer Wheeler- **The Indus Civilization** (1953)

३. डॉ० सूर्यकान्त- **संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास**, पृ० ९७।

पणियों द्वारा आर्यों की गायों का अपहरण, पणियों की नास्तिकता (यज्ञादि न करना) इत्यादि वर्णन सैन्धव सभ्यता के लोगों से वैदिक आर्यों के निरन्तर संघर्ष का प्रमाण देते हैं। यह सम्भव है कि आर्यों से प्रथम टकराव ४००० ई० पू० के आस-पास ही हुआ हो। आर्यों की शाखाएँ क्रमशः इस सभ्यता के लोगों से संघर्ष करती रहीं। अन्ततः १६०० ई० पू० में आर्यों की अन्तिम विजय हुई और सैन्धव सभ्यता नष्ट हो गयी। इन पिछली आर्यशाखाओं में से ही कुछ पश्चिम एशिया में प्रव्रजित हो गयी और यूरोप में भी उनका प्रसार हुआ। इन सभी के मूल पुरुष 'विरोस्' या 'वीराः' (Viros) कहलाते थे।

इस पुरातात्त्विक आधार पर ऋग्वेद का काल ४००० ई० पू० में रखने में कोई संकट नहीं प्रतीत होता यद्यपि पाश्चात्त्य विद्वान् २००० ई० पू० तक ही जाने की सम्भावना प्रकट करते हैं।

## (घ) भूगर्भशास्त्र पर आश्रित मत

ऋग्वेद में भूगोल और भूगर्भ-सम्बन्धी अनेक घटनाओं का वर्णन मिलता है जिनके आधार पर इसके काल का निर्धारण किया गया है। अन्य वैदिक ग्रन्थों के विषय में इस दिशा में कोई कार्य नहीं हुआ है। यूरोपीय विद्वानों ने इस आधार पर काल-निर्णय के प्रयास का उपहास किया है। फिर भी ये तथ्य सर्वथा उपेक्षणीय नहीं हैं। आधुनिक विद्वान् वैदिक भूगोल को बहुत महत्त्व दे रहे हैं जिससे वैदिक संस्कृति के प्रचार-प्रसार का अनुशीलन होता है। इस विषय का आरम्भ डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने किया था। तदनन्तर डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपने ग्रन्थ 'आर्यों का आदिदेश' में भी इस पर विचार किया है। अन्य विद्वानों के एतद्विषयक कार्य भी महत्त्वपूर्ण हैं।

ऋग्वेद (७/९५/२) में कहा गया है कि सबसे पवित्र नदी सरस्वती ऊँचे गिरि-शिखरों से निकलकर समुद्र में गिरती है। सरस्वती और शुतुद्रि (सतलज) नदियाँ परस्पर मिलकर गर्जन करती हुई समुद्र में गिरती थीं (ऋ० ३/३३/२)। यह समुद्र राजस्थान की मरुभूमि में था। आर्यों का निवासस्थान सप्तसिन्धु-प्रदेश में था जिसके चारों ओर समुद्र था (ऋ०९/३३/६; १०/४७/२)। आधुनिक विद्वानों नें अनुमान किया है कि पूर्वी समुद्र गंगा-यमुना की घाटी में (उत्तर प्रदेश तथा बिहार) था क्योंकि गंगा हरिद्वार के निकट ही समुद्र से मिल जाती थी। दक्षिण में राजस्थान की मरुभूमि सागर के रूप में थी। पश्चिमी समुद्र तो अभी भी है। उत्तरी सागर के विषय में भूगर्भवेत्ता कहते हैं कि बल्ख तथा फारस के उत्तर में एक विशाल सागर था जिसे एशियाई भूमध्य-सागर कहा गया है। यह सागर उत्तर में आर्कटिक समुद्र तक फैला हुआ था। वर्तमान काल के कृष्ण सागर (Black Sea), कास्पियन सागर, अराल तथा बाल्कन झील इसी के अवशेष हैं।

उत्तरी भारत में केवल सप्तसिन्धु-प्रदेश ही जल के ऊपर था और वहाँ कुछ नदियाँ (विपाशा, शुतुद्रि, वितस्ता आदि) बहती थीं। दक्षिण भारत का वर्तमान पठार समुद्र के पार था क्योंकि पूरी गंगा-घाटी समुद्र के रूप में थी। जल में शीत का आधिक्य था, उत्तरी वायु हिमालय के अधिक ऊँचा न होने के कारण उत्तरी ध्रुव से सीधी चली आती थी। यह स्थिति शीत युग (Pleistocene Period) की थी। इस युग का समय ५०००० ई० पू० से २५००० ई० पू० तक था। डॉ० सम्पूर्णानन्द का कथन है कि इस युग के दृश्यों को सप्तसिन्धु-प्रदेश में रहते हुए आर्यों ने देखा था तथा तदनुरूप कुछ ऋचाएँ रची थीं। इसके बाद क्रमशः हिमालय की ऊँचाई बढ़ी, पञ्जाब में उष्णता की वृद्धि

हुई, राजस्थान की मरुभूमि सागर से बाहर निकली, पूर्वी समुद्र गंगा-यमुना की मिट्टी के आने से खिसकता गया और आर्यलोग भी शनैः शनैः गंगा यमुना के साथ-साथ पूर्व की ओर बढ़े। इसके पूर्व आर्यों का निवास पंजाब से अफगानिस्तान तक था-वही 'सप्तसिन्धु-प्रदेश' कहलाता था। डॉ० अविनाशचन्द्र दास के अनुसार यह स्थिति ऋग्वेद की ऋचाओं को न्यूनतम २५००० ई० पू० में ले जाती है।

इस आधार को बहुत से विद्वान् शंका की दृष्टि से देखते हैं। उनका कथन है कि ये विवरण तथ्याश्रित नहीं हैं, अपितु वैदिक ऋषियों की कल्पनाएँ हैं कि भारत में ऐसी भौगोलिक स्थिति थी। यदि ये बातें कभी हुई थीं तो ऋषियों ने प्राचीन परम्परा से उनका श्रवण करके उन्हें ऋचाओं में व्यक्त किया होगा। भाषाशास्त्र, पुरातत्त्व आदि के आधार पर प्राप्त वैदिक युग से इस आधार पर प्राप्त युग की संगति स्थापित करना अत्यधिक कठिन है। अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि इन भौगोलिक विवरणों की व्याख्या कैसे हो?

## ( ङ) पौराणिक तिथिक्रम

डॉ० कुञ्जन् राजा ने अपने ग्रन्थ-'द वेदज' में वेदों के काल-निर्णय में पौराणिक तिथिक्रम को निर्णायक माना है। पुराणों में प्राप्त तिथिक्रम का महत्त्व असीरियन, ओल्ड टेस्टामेन्ट तथा ग्रीक साहित्य में प्राप्त तिथिक्रम के निर्देश से न्यूनतर नहीं है। पुराणों तथा महाभारत के तिथिक्रम के आधार पर भारतीय ज्योतिर्विद् आर्यभट्ट (३९९ ई०) ने कलियुग का आरम्भ निश्चित किया था जो आधुनिक गणना से ३१०१ ई० पू० में हुआ था। भारतीय परम्परा में यह तिथि पौराणिक धर्म के उद्भव का काल है। प्रायः सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का विकास इस समय तक हो गया था। ऋग्वेद की ऋचाओं की समाप्ति तथा अन्य वेदों के मन्त्रों की रचना के काल में एक लम्बा अन्तराल रहा होगा। अथर्वन्, अङ्गिरस् तथा अत्रि जैसे प्राचीन ऋषिगण अपने धर्म का विधान प्राचीन आर्यों के बीच कर रहे थे। वह समय बहुत पहले होगा। अन्य राष्ट्रों में उसी समय में नयी सभ्यता और धर्म का अभ्युदय हो रहा था। ऋग्वेद का रचनाकाल इसी प्राचीनता का द्योतक है। अन्य सभ्यताओं के सम्पर्क से ऋग्वेदीय सभ्यता का ह्रास होने लगा तथा अन्य वेदों के उद्भव-काल में इसका पुनरुद्धार हुआ। यह कहना तो अभी कठिन है कि कलियुग के आरम्भ से कितना पूर्व वैदिक साहित्य का उद्भव हुआ, किन्तु वैदिक युग में उन्नति और अवनति के कालों को शताब्दियों में ही अंकित किया जा सकता है। ज्योतिष के आधार पर प्राप्त होनेवाली काल-गणना का समर्थन भी इससे हो जाता है कि वैदिक सभ्यता का उद्भव ६००० ई० पू० के आस-पास हुआ हो तथा वर्तमान काल में उपलब्ध मन्त्रों में अधिकांश की रचना का काल ५००० ई० पू० से ४००० ई० पू० तक माना जाये। अन्य वेदों तथा ब्राह्मणों का काल ४००० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक मानना चाहिए।[1]

## निष्कर्ष

वस्तुतः वेदों का रचना-काल पिछले १५० वर्षों में इतना विवादपूर्ण विषय रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी-अपनी धारणा बना रखी है। ये धारणाएँ हठ के स्तर तक पहुँच चुकी हैं। भारतीय

1.Dr. C. Kunhan Raja- **The Vedas**, Andhra University, Waltair (1957), p. 38.

इतिहास के सामान्य विद्वान् ऋग्वेद की पूर्व कालसीमा १५०० ई० पू० से पहले ले जाने में इतिहास का अतिक्रमण समझते हैं। कुछ उदारमना मनीषी २००० ई० पू० तक बढ़ते हैं और भाषाशास्त्रीय एवं पुरातात्त्विक आधारों को समन्वित करने का प्रयास करते हैं। प्राचीनता के पोषक भारतीय विद्वान् ऋग्वेद के साथ अन्य वेदों को भी विश्वसभ्यता की प्रथम किरणों का प्रतीक मानकर नयी-नयी खोजों से परिवर्तन प्राप्त करने वाले कालक्रम से भी प्राचीनतर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। फिर भी अनेक आधारों से संगति बैठाकर, धार्मिक भाषा के परिवर्तन को मन्थर-गति से युक्त मानकर एवम् आर्यों की प्रव्रजन-प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर यदि वेदों का रचनाकाल ४००० ई० पू० से ३००० ई० पू० के बीच रखें तो विशेष असंगति नहीं होगी। उनके मन्त्रों का संकलन अवश्य ही परवर्ती युग में सम्भवत: २००० ई० पू० में हुआ था- उसके अनन्तर ही ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्- इनका संकलन हुआ। २००० ई० पू० से १००० ई० पू० के मध्य यह सब संकलित हो गये। १००० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच सूत्र-साहित्य (कल्प, प्रातिशाख्य) तथा निरुक्त की रचना हुई। ६०० ई० पू० में वैदिक वाङ्मय अपनी पूर्णता पर पहुँचकर लौकिक संस्कृत के लिए स्थान छोड़ चुका था- आर्यावर्त के पूर्व और मध्य में पालि तथा प्राचीन प्राकृत भाषाएँ प्रचलित हो चुकी थीं जिन्हें क्रमशः बुद्ध और महावीर ने अपने प्रवचन का माध्यम बनाया। वेदों के मूल प्रदेश में तथा कुछ पूर्व तक संस्कृत का वर्चस्व हो गया।